

जैनधर्म : प्राचीनता का गौरव और नवीनता की आशा

स्वामी सत्यभक्त

सत्याश्रम, वर्धा

संसार में धर्म का उद्देश्य यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक सुख बढ़ें और दुःख कम हों। पारलौकिक सुख के लिये धर्म नहीं होता। इसकी कल्पना तो इसलिये की जाती है कि इसकी आशा से मनुष्य इसी जीवन को सुखी बनाने के लिये आवश्यक कर्तव्य करता रहे। जैनधर्म का यही उत्कृष्ट ध्येय है। जैन मान्यतानुसार, प्राचीन काल में संसार भोग-भूमि था। दस कल्पवृक्ष उसके जीवन की सारी आवश्यकताएँ क्षणमात्र में पूर्ण करते थे। पति-पत्नी जीवन भर आनन्द से रहते थे। उस समय दाम्पत्य प्रेम ही धर्म था। व्रत, उपवास, देवपूजा, गुरुपूजा आदि धार्मिक क्रियाएँ नहीं थीं। फिर भी, प्रत्येक दम्पति मरकर देवगति में जाता था। इस तथ्य से यह ध्वनित होता है कि यदि किसी को सताया न जावे, संघर्ष न किया जावे, तो प्रेमपूर्ण आनन्दी जीवन बिताने से सद्गति प्राप्त होती है। इस स्थिति में धार्मिक क्रियाकाण्ड या साधु-संस्था की आवश्यकता नहीं होती। जब समाज में संघर्ष और दुःख बढ़ते हैं, तब ये आवश्यक हो जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिये धर्म होता है। इसलिये धर्म मुख्यतः इसी लोक के लिये है। परलोक तो उसका आनुषंगिक फल है। किसान को खेती करने पर अन्न के साथ भूसा भी अनिवार्यतः मिलता है। पर उसका उद्देश्य तो अन्न ही होता है। फिर भी वह भूसा उपयोगी होता है और उसे वह छोड़ता नहीं है। इसी प्रकार धर्म भी इसी जन्म की समस्याएँ हल करता है। इससे यदि परलोक का फल भी भूसे की तरह आनुषंगिकतः मिले, तो उसे छोड़ना क्यों चाहिये? धर्म की आवश्यकता कर्मभूमि में ही होती है, भोगभूमि में नहीं।

जैनधर्म का अवतरण कर्मभूमि की अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु हुआ था। मानव कल्याण के लिये इसका योगदान असाधारण है, गौरवपूर्ण है। वर्तमान युग में इसका गौरव तभी अक्षुण्ण बना रह सकता है जब इसमें समुचित रूपान्तरण एवं धारणात्मक समन्वयत किया जावे। यह प्रक्रिया ही इसके स्वर्णिम भविष्य की आशा है।

जैनधर्म के प्राचीन गौरव की गाथा

महावीर के युग में हिंसा, पशुवध, यज्ञ और क्रियाकाण्डों का जोर था। उनके पूर्ववर्ती युग में कृषि का समुचित विकास नहीं हो पाया था और पशुओं की बहुलता से कृषि की रक्षा भी एक समस्या थी। मानव ने सम्भवतः अपनी एवं कृषि की रक्षा के लिये पशुवध एवं मांसभक्षण प्रारम्भ किया होगा। इससे पशुओं में कमी होने लगी और कृषि-उत्पादन बढ़ने लगा। फलतः महावीर के युग में अन्नोत्पादन बढ़ने से पशुवध अनावश्यक हो गया और उन्हें अहिंसा के सन्देश के लिये अनुकूल सामाजिक परिस्थिति मिली। महावीर ने इस परिस्थिति का लाभ लेकर अहिंसा का इतनी दृढ़ता, सूक्ष्मता एवं व्यापकता के साथ उपदेश दिया कि विश्व में आज तक उनके समान अहिंसा

का उद्घोषक नहीं हुआ है। आज के युग की बढ़ती शाकाहार प्रवृत्ति और मांसाहार-निवृत्ति की रचि महावीर के उपदेशों की लोकप्रियता एवं वैज्ञानिकता की प्रतीक है। बुद्ध की अहिंसा महावीर से काफी पीछे थी। लोग महादेव को पशुपतिनाथ कहते हैं। पर सच्चे पशुपति तो महावीर ही हैं, जिनकी कृपा से हजारों वर्षों से करोड़ों पशुओं को अमय मिला हुआ है। अहिंसा का जीवनव्यापी उपदेश महावीर के असाधारण साहस का परिणाम मानना चाहिये।

अहिंसा के समान अनेकान्त का दार्शनिक दृष्टिकोण भी उनकी एक असाधारण देन है। इससे द्वन्द्वात्मकता दूर कर बौद्धिक समन्वय दृष्टि प्राप्त हुई। वस्तुतः व्यवहार में तो अनेकान्त आदिम काल से ही है, पर व्यवहार की समझ का उपयोग दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित नहीं था। महावीर ने यह कर्मों दूर कर संसार का अनन्त उपकार किया है।

महावीर ने श्रम, सम और स्वावलम्बन के तीन सकारों का उपदेश देकर बताया कि भक्ति, दोषस्वोक्तित या क्रियाकाण्ड से दुख दूर नहीं होता। अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। महावीर ने भी अपने त्रिपृष्ठनारायण के भव में किये गये अन्याय का फल अनेक भवों तक भोगा। कर्मफल की यह अनिवार्यता मनुष्य को कर्मपरायणता के लिये प्रेरित करती है। भक्ति आदि से कर्मपरायणता शिथिल हो, यह उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था। इसीलिये वे निरीश्वरवादी बने, प्रकृतिवादी बने। जड़ प्रकृति भक्ति आदि से कैसे प्रसन्न हो सकती है? उनका कर्मवाद मनोवैज्ञानिक रूप से जीवन को समुन्नत करने के लिये आशक्तिरूप प्रमाणित हुआ है। यह भी भारतीय संस्कृति को उनकी असाधारण देन है।

महावीर के युग में आलंकारिक भाषा में कही बातों को लोग अभिषेय अर्थ में मानने थे। हनुमान को बन्दर, रावण आदि को पहाड़ के समान मान्यताओं से जीवन की संगति नहीं बैठती थी। महावीर ने इस असंगति को दूर करने का प्रयत्न किया। हनुमान को वानरवंशी मनुष्य बताया तथा रावणादि को राक्षसवंशी निरूपित किया। उनके शरीरादि अवश्य आज की तुलना में विशाल थे। महावीर की तुलना में भी पर्याप्त विशाल थे। इस पौराणिक असंगति को उन्होंने काल की अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी भेद की मान्यता से तर्कसंगत बनाया। उन्होंने कालचक्र की अनादि-अनन्तता प्रस्तुत कर आलंकारिक तत्वों को बोधगम्य बनाने में असाधारण योगदान किया।

महावीर मानव-मात्र की समता के प्रचारक थे। वे जातिभेद एवं ऊँचनीच का भेद नहीं मानते थे। इसीलिये हरिकेशी चांडाल और केशिभ्रमण के उदाहरण जैन शास्त्रों में आते हैं। उनके अनुसार, मानव जाति एक है, जन्मना एक है, कर्मणा या देश-कालगत भेद व्यावहारिक हैं। उनके कार्यों में उत्परिवर्तन सदैव संभव है।

महिलाओं का गौरव बढ़ाने में महावीर अग्रणी सिद्ध हुए। जब बुद्ध महिलाओं को साध्वी ही बनाने को तैयार न थे, तब महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना कर उनको पुरुषों के समकक्ष महत्व दिया। श्वेतांबर परम्परा तो उन्हें अर्हत् पद पर भी प्रतिष्ठित करती है। साध्वियों की वंदनीयता के सम्बन्ध में प्रचलित विचारधारा बुद्धधर्म से अनुप्राणित लगती है। यह महावीर के उपदेशों से मेल नहीं खाता। मेरा सुझाव है कि जैन साधु-संघ को इस भूल में सुधार कर लेना चाहिये।

भारतीय दर्शनों में महावीर युग में ३६३ मतवाद प्रचलित थे। इनमें से अनेकों में स्थान पाने एवं अवस्था परिवर्तन के लिये आकाश एवं काल द्रव्यों की मान्यता रही है। इस आधार पर महावीर के ध्यान में आया कि चलना और स्थिर होना भी पदार्थों के स्वभाव हैं। इन कार्यों के लिये भी पृथक् द्रव्य होने चाहिये। एतदर्थ उन्होंने धर्म और अधर्म द्रव्य की मान्यता प्रस्तुत की। यह उनका अनुठा, गहन दार्शनिक चिन्तन था। यह न्यूटन के युग तक अपूर्व माना जाता रहा। वैज्ञानिक युग में इन्हें पहले जड़ता के सिद्धान्त से सहसम्बन्धित किया गया, फिर ईश्वर और गुरुत्वशक्ति

से उनकी समकक्षता मानी गई। पर सापेक्षतावाद ने इस पक्ष में पर्याप्ति चिन्तन विषय बदल दी है। फिर भी, तत्कालीन युग में महावीर की यह मान्यता उनकी मौलिक और असाधारण देन थी।

जैन धर्म में सर्वज्ञता की बड़ी मान्यता है। मैंने पाया है कि इस शब्द के चार अर्थ दिये गये हैं :

(१) 'जे एगं जाणइ, ते सब्बं जाणइ' के अनुसार जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है। आत्मदर्शी सर्वज्ञ होता है। जैन शास्त्रों में ऐसी कथाएँ हैं कि एक साधारण ज्ञानी भी थोड़े ही समय में अर्हत् हो गया। यहाँ अर्हत् की सर्वज्ञता आत्मज्ञता ही है। वस्तुतः यही व्यापक दृष्टि है।

(२) सोमदेव ने 'लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः' कहा है। इसके अनुसार, युग की महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान का स्पष्ट और व्यापक ज्ञान ही सर्वज्ञता है। यह अर्थ वास्तविक, व्यावहारिक एवं युग-प्रचलित है। इन्द्रभूति आदि महावीर से वादविवाद करते समय इन्हीं शब्दों में सोचते हैं कि हम सर्वज्ञ हैं या महावीर ? इस दृष्टि से महावीर सचमुच सर्वज्ञ थे।

(३) सर्वज्ञता का एक अन्य अर्थ है। विश्व की किसी भी वस्तु या घटना के ज्ञान की क्षमता। न्याय-वैशेषिक ऐसे ज्ञानी को युंजान योगी कहते हैं। सर्वज्ञता का यह अलौकिक अर्थ है। अधिकांश पौराणिक घटनाओं में यही अर्थ प्रचलित रहा है। ऐसे सर्वज्ञ होने का दावा महावीर को भी कभी-कभी करना पड़ता था। परलोक और पूर्वजन्म पर विश्वास कराने के लिये यह आवश्यक था। एक बार उनसे दीक्षित साधू संघस्थ हो अपने नगर में आया। भिक्षा की अनुमति देते समय महावीर ने उससे कहा, "आज तुम्हें अपने माँ के हाथ से भिक्षा मिलेगी।" पर उसकी माँ तो उसे पहचान तक न सकी, भिक्षा की तो बात ही क्या ? मार्ग में एक ग्वालिन ने उसे भिक्षा दी। उसका विवरण सुनकर और अपने ऊपर अविश्वास के संकट को देखते हुए महावीर ने उससे कहा, "ग्वालिन पूर्वजन्म में तुम्हारी माँ ही थी।" जगत् कल्याण के लिये कभी कभी महावीर को ऐसा अतथ्य-सत्य कहना पड़ता था। इससे सत्य-व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि इसमें असंयम नहीं है। सत्य महाव्रती तो ठोठे गुणस्थान में हो जाता है। पर असत्य मनोयोग और वचन योग बारहवें (या तेरहवें ?) गुणस्थान तक रहते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि असत्य वचन योग से सत्य महाव्रत भंग नहीं होता।

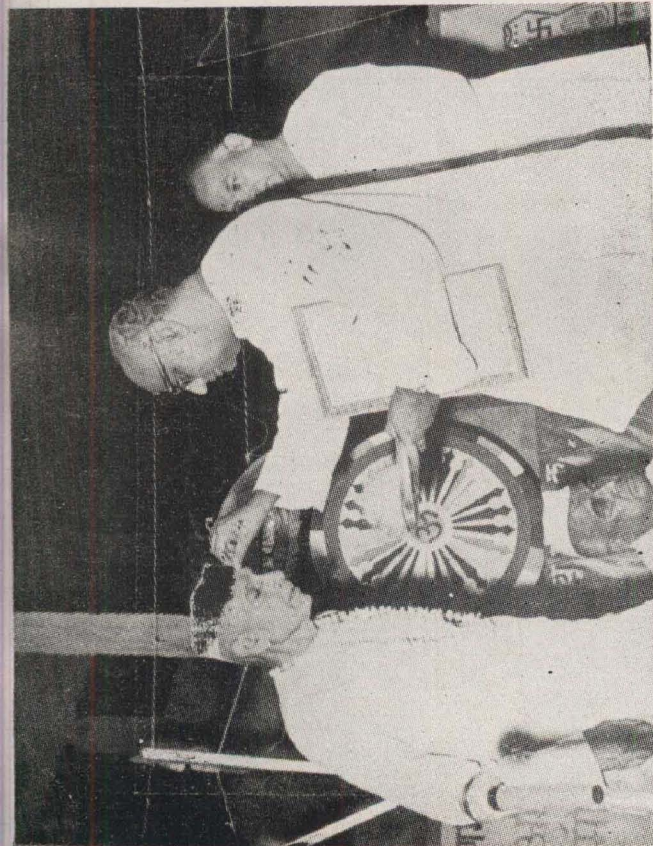
(४) सर्वज्ञता की चौथी परिभाषा सर्वकाल एवं सर्वलोक की सभी पर्यायों के युगपत् प्रत्यक्ष के रूप में मानी जाती है। यह परम अलौकिक परिभाषा है और मुझे असंभव लगती है। मेरा सुझाव है कि वैज्ञानिक युग के दृष्टिकोण से प्रारम्भ की दो परिभाषायें तथ्यपूर्ण, तर्कसंगत एवं सत्य के रूप में स्वीकार करनी चाहिये।

कुछ जैन मान्यताओं की समीक्षा

जैन ग्रन्थों में वर्णित विश्व रचना आज की आठ हजार मील व्यास की गोल पृथ्वी की मान्यता से असंगत लगती है। इस पृथ्वी पर लाखों करोड़ों मील के द्वीप-समुद्र की बात हास्यास्पद है। जैन लोग इस बात की चर्चा में बगले झाँकने लगते हैं। पर इस असमंजस में रहने की जरूरत नहीं है। हमें निर्भयता से साफ शब्दों में कहना चाहिये कि ये भौतिक विवरण धर्मशास्त्र के अंग नहीं हैं। धर्म तो 'चारित्तं खलु धम्मो' है। विश्व रचना तो केवल कर्मफल जताने के लिये उदाहरण है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक् दर्शन है। जब विश्व रचना का विवेचन तत्त्वरूप नहीं है, तो वह क्या सच्चा या क्या झूठा ? इस विवरण से धर्म का खंडन नहीं होता। सत्य बोलना तो तब भी धर्म है, जब पृथ्वी चपटी है और तब भी धर्म है, जब पृथ्वी गोल है। दूसरे, भूगोल-खगोल सम्बन्धी मान्यताओं को ऐतिहासिक सन्दर्भ में लेना चाहिये, धार्मिक सन्दर्भ में नहीं। ऐसी स्थिति में आज की मान्यताओं के आलोक में उनकी समीचीनता परखी जा सकती है और वैज्ञानिक प्रगति को मूल्यांकित किया जा सकता है।



वीर निर्वाण भारती पुरस्कार के अवसर पर पण्डितजी,
साहू (स्व०) शांति प्रसादजी बैठे हैं



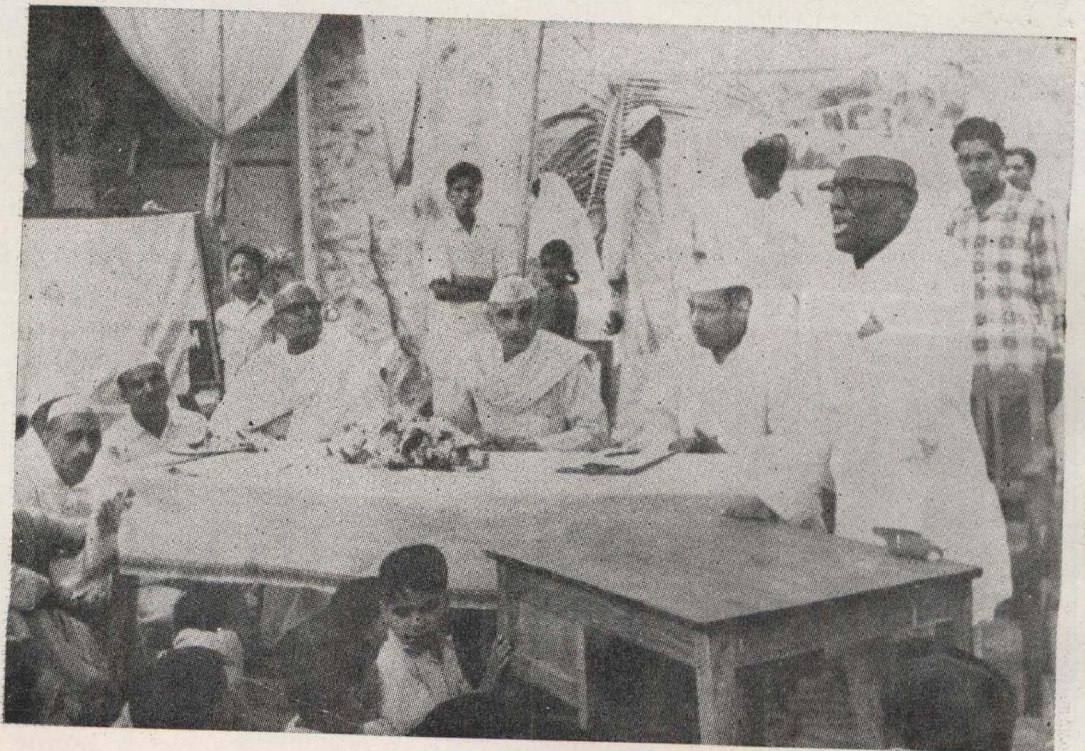
सेठ रिषभकुमार द्वारा सतना में पण्डितजी का स्वागत, १९७४



पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री
अभिनन्दन समारोह के
अवसर पर पण्डितजी,
दिल्ली, १९८०



जेन शिक्षा संस्था, कटनी में छात्रों के बीच पण्डितजो (१९५९)



कारंजा गुरुकुल में पण्डितजी

भारत में आयों का इतिहास लगभग छः हजार वर्ष का है। अतः लाखों-करोड़ों वर्षों का वर्णन निराधार प्रतीत होता है। चौबीस तीर्थंकरों का इतिहास भी इस दृष्टि से तथ्यपूर्ण नहीं लगता। यह वर्णन इतिहास-ज्ञान के लिये नहीं, जैन धर्म की उपयोगिता बताने के लिये था। जैनधर्म ने महावीर को धर्मकर नहीं कहा, तीर्थंकर कहा क्योंकि अहिंसा, सत्यादि धर्म कोई नहीं स्थापित करता। एक धर्म में एक ही तीर्थंकर होता है, अन्य अरहंत, जिन, सर्वज्ञ आदि होते हैं। फिर भी, जैनो को चौबीस तीर्थंकर मानने पड़े। इसका उद्देश्य भी ऐतिहासिक न होकर उपयोगिता एवं महत्व प्रदर्शन रहा है।

महावीर से एक श्रद्धालु ने पूछा, “क्या आपके बिना हमारा उद्धार न होगा?” इस प्रश्न के दोनों प्रकार के उत्तर परेशानी में डालने वाले प्रतीत हुए। अतः उन्हें कहना पड़ा, “हमारे धर्म के बिना तुम्हारा उद्धार न होगा। अभी तक जिनका उद्धार हुआ, वह जैन धर्म से ही हुआ। मैं तो अन्तिम तीर्थंकर हूँ, मेरे पहिले तेईस और हो गये हैं।” वस्तुतः यह तथ्य नहीं है, उपयोगितावादी चतुर दृष्टिकोण है।

अमेरिकी लेखक इमरसन मानता है कि प्रत्येक संस्था उसके संस्थापक के जीवन की छाया होती है। जैन धर्म भी महावीर के जीवन की छाया है, उन्होंने जो कहा, उसे जीवन में उतारा। उनकी प्रकृति सहिष्णुता प्रधान थी, वे प्रतिकार की उपेक्षा करते थे। वस्तुतः, राजमार्ग यह है कि यथाशक्य प्रतिकार किया जावे। फिर भी, जो रह जावे, उसे सहन किया जावे। जैन धर्म में प्रतिकार और सहिष्णुता के बीच समन्वय नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक युग के लिये जैन धर्म की आशावादी रूपरेखा

जैन धर्म के प्रति विशेष अनुराग होने से मैंने वरसों पूर्व जैन मत को विज्ञान-समन्वित बनाने और उसके कायाकल्प की इच्छा से ‘जैन धर्म मीमांसा’ नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका उद्देश्य था कि जैन धर्म इस युग में भी मानव के लिये अधिकाधिक कल्याणकारी बन सके और उसके अकल्याणकारी अंश दूर किये जावें। जैन धर्म में नवीनता को ग्रहण करने की क्षमता है, क्योंकि वह परीक्षाप्रधानी है। इस दृष्टि से मैं जैन धर्म में निम्न धारणाओं के समाहरण का सुझाव देना चाहता हूँ :

- (अ) धर्म का लक्ष्य इसी लोक को अधिकाधिक सुखी बनाने की ओर रहे, परलोक का लक्ष्य गौण माना जावे।
- (ब) विश्व रचना तथा द्रव्यवर्णन को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानकर उनके प्रयोग एवं विज्ञान सम्मत रूप का समाहरण किया जावे।
- (स) सर्वज्ञता की व्यावहारिक एवं वास्तविक परिमाणा मान्य की जावे, अलौकिकता को प्रेरित करने वाली परिमाणा आलंकारिक है।
- (द) महावीर ने दिगंबरत्व को साधुता एवं आत्मविकास का उत्तम सोपान बताया था। पर इसे अनिवार्य नहीं मानना चाहिये। पीछी-कमंडलु के समान संचलता भी साधुता में बाधक नहीं मानी जानी चाहिये।
- (य) जैनो के तीनों सम्प्रदायों में समन्वय एवं सुधार होना चाहिये। दिगंबरत्व को अनिवार्यता ने जैन धर्म को बहुत अनुदार बना दिया है। सात्विक अशन-पान, पीछी-कमंडलु, शास्त्र-परिग्रह एवं अल्पचलता में भी साधुता रह सकती है। संप्रदाय-व्यामोह का त्याग होना चाहिये।

श्वेतांबर मन्दिरों की मूर्तियाँ महावीर के धर्म की विडम्बना हैं। उन्हें दिगम्बर-वेशी रखने में ही गरिमा है। स्थानकवासी या तारणपंथ मुस्लिम सत्ता के प्रभाव की उपज है। अब युग बदल गया है।

मूर्ति पूजा के लिये नहीं, प्रेरणा के लिये होती है। अतः मन्दिरों में, स्थानों में इस दृष्टिकोण से मूर्तियाँ रखना सामयिक मांग की पूर्ति ही होगी।

- (र) साध्वी के अपमान या अवंदनीयता का सिद्धान्त जैन धर्म से मेल नहीं खाता। नरनारी समभाव के आधार पर संघ में अनुशासन रखना चाहिये।
- (ल) जन-जन में प्रचार को दृष्टि से पैदल विहार का माध्यम सर्वश्रेष्ठ है, पर आज के गतिशील युग में, विशिष्ट कारण और अवसरों (उपसर्ग की आशंका, धर्म प्रचार आदि) पर शीघ्रगामी वाहनों के उपयोग को स्वीकृति मिलनी चाहिये।
- (व) मुक्ति और सिद्धशिला मानें या न मानें, पर मोक्ष पुरुषार्थ की मान्यता अवश्य रहनी चाहिये। महावीर का जीवन इसीलिये महत्वपूर्ण है। दुःख की परिस्थिति में भी सुख का स्रोत भीतर से बहाना और सुखानुभूति ही वह मोक्ष पुरुषार्थ है जिसका उपदेश महावीर ने दिया है।
- (श) जैन धर्म को अधिक प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। वर्तमान तीर्थ तो महावीर ने प्रचलित किया। उसमें पार्श्व धर्म का भी समन्वय किया गया और उन्हें भी तीर्थकर मान लिया गया। फलतः अब पार्श्व के धर्म का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहा। वर्तमान जैन धर्म महावीर की ही देन है।
- (ष) जैन सम्प्रदाय जातिभेद नहीं मानता। जिनसेनाचार्य के समय से कुछ दिगम्बर ग्रन्थों में इसका समाहरण हुआ है। दक्षिण में मध्ययुग में अनेक जैनैतर संस्कार अपनाने पड़े। अब इनकी आवश्यकता नहीं है। इन्हें अब प्रक्षिप्त मानना चाहिये।
- (स) जैन तीर्थंकर को ईश्वर के समान गुणवाला मानकर जैनधर्म का मूल ही विकृत कर दिया गया है। उनके कल्याणकों की अलौकिकता भी प्रभावकता का पोषणमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। निरोश्वरवादी एवं प्रकृतिवादी जैनधर्म में ईश्वरवाद का परोक्ष राज्य वैज्ञानिक युग में उसके गौरव को ही कम करता है। ऐसे विवरणों को उपेक्षणीय मान लेना चाहिये।
- (ह) जैनों का मूल सिद्धान्त “युक्तिमत् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः” है। इस आधार पर जैन निष्पक्ष विचारक होता है। उसमें अन्धश्रद्धा का होना एक कलंक है।

इन धारणाओं के समाहरण एवं क्रियान्वयन से जैनों के मानव-कल्याण का क्षेत्र व्यापक होगा और एक नई उदार दृष्टि प्राप्त होगी। असत्य जानते हुए भी पुरानी बातों से चिपके रहना कभी स्वपर-कल्याणकारी नहीं हो सकता। उपरोक्त नई दृष्टि अपनाने से जन्मना जैनधर्म के प्रति अनुराग और बढ़ेगा। उसका पुराना वैभव भी प्रकाशित होता रहेगा और नये युग में वह सम्प्रदायविहीन रूप धारण कर भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता को विश्व में प्रसारित करेगा।

